

प्रेमचंद के कथा साहित्य में आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद

Dr. Deepali Sharma

Assistant Professor, SD Govt. College, Beawar, Rajasthan, India

सार

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में यथार्थ का चित्रण करते हुए भी आदर्श की स्थापना पर बल दिया जाता था। इस प्रवृत्ति की ओर प्रथम महत्वपूर्ण संकेत प्रेमचन्द का है। उन्होंने कथा साहित्य को यथार्थवादी रखते हुए भी आदर्शोन्मुख बनाने की प्रेरणा दी और स्वतः अपने उपन्यासों और कहानियों में इस प्रवृत्ति को जीवन्त रूप में अंकित किया। 'सोजेवतन' 1909 में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशन के साथ ही यह विवादों में आ गया। अंग्रेजी - राज ने 'सोजेवतन' पर प्रतिबंध लगा दिया और उनकी प्रतियों को जब्त कर जला दिया। इस प्रतिबंध और जलाने की घटना ने प्रेमचंद को और ज्यादा लोकप्रिय बनाया। प्रेमचन्द जनता के और नजदीक गए। नजदीक जाने के इस क्रम में प्रेमचन्द साहित्य की सामाजिक भूमिका और स्वाधीनता आंदोलन उसके गहरे जुड़ाव को समझ रहे थे। इसी समझ ने प्रेमचन्द के भीतर स्वाधीनता के भाव भरे और "अपनी स्वाधीनता का हामी लेखक, समाज के प्रति उत्तरदायित्व को भी खूब पहचानता है, क्योंकि वह जानता है कि समाज के संघर्ष से ही उसे यह स्वाधीनता मिली है और वह साधारण जनता की स्वाधीनता का एक अंग है।"[1] "इसीलिए" "स्वाधीनता का आन्दोलन जितना ही फैलता गया और जनता के दिमाग में इसकी जड़ें जितनी ही गहरी धँसती गई, प्रेमचन्द की कला उतनी ही जीवन्त और अर्थवान होती गई। उनके अफसाने और उपन्यास एक आईना है, जिसमें आप हिन्दूस्तान की कौमी तवारीख के सबसे यादगार दौर के मुख्तलिफ पहलुओं को, उनकी तमाम अच्छाइयों और कमियों के साथ, प्रतिबिम्बित होता हुआ देख सकते हैं।"[2]

परिचय

अच्छाइयों और कमियों के साथ विवाद भी लगातार बना रहा। विवादों के आरोपों की शुरूआत 'सोजेवतन' के साथ ही शुरू हो गया था किन्तु 'प्रेमाश्रम' तक आते-आते इसका स्वरूप व्यापक बन गया। 'प्रेमाश्रम' के आने पर इसकी प्रशंसा में जुलाई 1922 के प्रभा में श्री रघुपति सहाय एक 'समालोचना' लिखते हैं और कहते हैं कि "नगर निवासियों के हाथों किसानों की क्या गति हो रही है, जमींदारी प्रथा ने किसानों की जिंदगी को पुलिस, जमींदार और अदालत के शिकंजे में किस तरह जकड़ दिया है, जमींदारी प्रथा किस तरह किसानों का खून चूस रही है, ... देश में कैसी शोषण की चिनगारियाँ उड़ रही हैं, कैसी आग लगी हुई है, इस अतीव महत्वपूर्ण, अति जटिल और अत्यन्त दृढाकार्षक प्रश्न को लेखक ने अपने अद्वितीय ढंग से पेश किया है।"[3] "सहाय जी की यह आलोचना तत्कालीन साहित्यिक - आलोचना का एक बेहतरीन नमूना है। अपने परिवेश और देशगत समस्याओं के साथ रचना के स्वरूप और विषय को रखते हुए सहायजी 'प्रेमाश्रम' का मूल्यांकन करते हैं। सहायजी के बाद प्रभा के ही फरवरी 1923 के अंक में श्री हेमचन्द्र जोशी 'प्रेमाश्रम' पर अपनी प्रतिक्रिया में इस उपन्यास की कमजोरियों की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि "प्रेमाश्रम" में देश कल्याण की शिक्षा अथवा नीति के उपदेशों को समझाने की चेष्टा इस प्रकार से की गई है कि सत्य, शिव तथा सुंदर का पुस्तक में पता ही नहीं मिलता। प्रेमाश्रम में जो समस्याएँ सामने रखी गई हैं वे ही सब कुछ हैं। उन्हें निकाल दीजिए तो इसमें कुछ भी बाकी न रहेगा। ... तुर्गनेव, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोम्यां रोला आदि लेखकों ने अपने लेखों में अत्यंत जटिल तथा दुर्बोध मानवी भावों का जो अपूर्व विश्लेषण किया है, रहस्यमय मानव जीवन की जिस पूर्ण अभिज्ञता का परिचय दिया है, जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के वर्णन की जो अलौकिक शक्ति दिखाई है वह प्रेमचंद जी की रचना में कहाँ...? प्रेमाश्रम में मानवी भावों के विश्लेषण की चेष्टा अवश्य की गई है, पर वह विश्लेषण हल्के ढंग का, कृत्रिम और असत्य है।"[4] प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' के ऊपर जोशी जी की आलोचना में कई आरोप सीधे तौर पर लगाए गए, जिसमें गहरी संवेदनात्मक अनुपस्थिति और विश्लेषण की कृत्रिमता का आरोप भी था। जोशी जी के इस आलोचना का जवाब देते हुए श्री जनार्दन प्रसाद 'माधुरी' के जून 1923 के अंक में लिखते हैं कि "अगर वास्तविक प्रशंसा करने पर उन लोगों पर मित्रता का आरोप लगाया जा सकता है तो इन यथार्थ और विद्वेषपूर्ण बातों से भरे हुए लेखों के लिखने के कारण जोशी जी पर शत्रुता साधने का आरोप क्या नहीं लगाया जा सकता है?"[5] और "अंततः आपको मानना ही पड़ेगा कि महान सत्य एक मात्र नैतिक उपदेश तथा लोकहित

की शिक्षा के सहारे ही प्रकट किया जा सकेगा।” [6] जनार्दन प्रसाद झा ने इसी को विस्तार से अपनी पुस्तक ‘प्रेमचन्द की उपन्यास कला’ में लिखा है। नीति शिक्षा और उसके कलात्मक मूल्य का जिक्र करते हुए प्रेमचन्द की रचना के संदर्भ में वे कहते हैं “इनके साहित्य में नीति - शिक्षा की जो बातें आती हैं वे बाहर की नहीं होती। सच तो यह है कि प्रभावशाली नीति - शिक्षा और जीवन का संबंध इतना स्वाभाविक और सुदृढ़ है कि साहित्य के लिए नीति बाहर की वस्तु हो ही नहीं सकती। जब तक कला का उद्देश्य मानवीय भावों और विचारों को परिष्कृत करना तथा उन्हें समुन्नत बनाना रहेगा, तब तक वह नीति - शिक्षा की उपेक्षा करेगी कैसे? प्रेमचन्द की कला का यही प्रधान उद्देश्य है। इसलिए, इनके उपन्यासों में उच्चादर्श तथा नीति - शिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है और सदैव बना रहेगा।” [7]

जनार्दन प्रसाद झा ने व्यवस्थित रूप से पहली बार प्रेमचन्द के साहित्य और कला का विवेचन किया और उनके महत्व को सामने लाने का कार्य किया। जनार्दन प्रसाद जी के बाद कई महत्वपूर्ण आलोचनाएँ प्रेमचन्द के ऊपर आईं।

प्रेमचन्द : एक साहित्यिक विवेचन पुस्तक में नन्ददुलारे वाजपेयी ‘हिन्दी उपन्यास - परम्परा और प्रेमचन्द’ पर बात करते हुए कहते हैं “प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्श - वादित। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी है घटनावली का निर्माण और उपसंहार करने में आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। [8] इसी क्रम में वाजपेयी जी ‘सेवासदन’ और ‘प्रेमाश्रम’ का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि “सेवासदन” में सुमन के चरित्र का सुधार कर प्रेमचन्द एक आश्रम की प्रतिष्ठा करते और उसके जीवन का उज्वल अध्याय आरम्भ करते हैं। ‘प्रेमाश्रम’ में वह वस्तु और भी स्थूल बनकर आई है। प्रेमाश्रम में आदर्श ग्राम की सृष्टि उपन्यास के उत्तरार्द्ध में की गई है। यह प्रेमचन्द का ध्येयवाद या उद्देश्यवाद है।..... आदर्श प्रधान पात्रों और परिस्थितियों का निर्माण और चित्रण तो कला के लिए वर्जित नहीं है, परन्तु उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्द को उपदेशात्मक लेखक की श्रेणी में पहुँचा देती है। [9] वाजपेयी जी उपन्यास की परम्परा का निदर्शन करते हुए प्रेमाश्रम तक पहुँचते हैं और ‘आदर्शवाद’, ‘उपदेश’, ‘उद्देश्य’ एवम् कृत्रिमता तक जाकर उनका विश्लेषण खत्म होने लगता है। वाजपेयी जी प्रेमचन्द के यहां ‘उपदेशात्मकता का आरोप तो लगाते हैं, लेकिन उपदेशों की व्याख्या सरलीकृत रूप में करते हैं।

रामविलास शर्मा प्रेमचन्द के ‘उपदेश’ की बहुकेन्द्रीत विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि “प्रेमचन्द साहित्यकार की तटस्थता के हामी न थे। वह यह उपदेश देते थे कि अगर जन - साधरण के आंदोलन और संघर्षों को लेकर साहित्य न रचा जाएगा, तो वह अमर न होगा। उनका सिद्धांत था - साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह जनता की सेवा करने के लिए साहित्य रचे। हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक जनता किसानों की है। इस जनता को छोड़कर औरों के बारे में लिखने से उपन्यासकार अपने देश और युग का प्रतिनिधि कैसे होता, इसीलिए उन्होंने किसानों के बारे में लिखा। [10] “इसीलिए” ‘प्रेमाश्रम’ में वे उन किसानों की जिंदगी की तस्वीर खींचना चाहते थे जिन्हें साहित्य के लक्षण - ग्रन्थों में जगह नहीं मिली थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, उपयोजन और उत्पत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे। [11] तत्कालीन राजनीतिक - सामाजिक घटनाओं और उसके प्रभाव की गहरी संबद्धता प्रेमाश्रम से है। भारतीय समाज में व्याप्त गहरे असंतोष की गूँज ‘प्रेमाश्रम’ के भीतर मौजूद है। “60 वर्षों से ब्रिटिश राज की छत्र - छाया में सामंत वर्ग के शोषण - उत्पीड़न से, विश्वयुद्ध की ज्यादतियों, कर्जों और युद्ध खत्म होने के तुरन्त बाद आकाश छूती कीमतों से पूर्वी उत्तर प्रदेश के खेतिहर - समाज में जो परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं, उन पर किसी भी राष्ट्रीय नेता के मुकाबले, पहली प्रतिक्रिया प्रेमचन्द ने की। यह प्रतिक्रिया उन्होंने ‘प्रेमाश्रम’ रचकर की। 1918-19 में पूर्वी उत्तर प्रदेश की जिन परिस्थितियों के जवाब में ‘प्रेमाश्रम’ की रचना हुई, उन परिस्थितियों ने ‘प्रेमाश्रम’ की रचना पूरी होने के बाद फूटने वाले दो शक्तिशाली आंदोलनों - किसान आंदोलन और असहयोग आंदोलन - में भारी हाथ बँटाया। प्रेमाश्रम न सिर्फ अपने समय के यथार्थ को चित्रित करता है बल्कि उस यथार्थ के भावी विकास की दिशा का भी संकेत करता है। यह एक ही साथ ‘वास्तविक चेतना’ और ‘संभावित चेतना’ दोनों का उपन्यास था।” [12]

कायाकल्प 1924 प्रेमाश्रम के बाद प्रेमचन्द का दूसरा उपन्यास आया, उसके बाद ‘रंगभूमि 1928 आया। रंगभूमि के साथ भी विवाद - आरोप का क्रम चला। रंगभूमि पर जो आरोप या विवाद थे, मौलिकता और



नकल के रूप में थे। इस आरोप के केन्द्र में श्री अवध उपाध्याय और रामकृष्ण शिलीमुख थे। श्री अवध उपाध्याय रंगभूमि को 'थैकरे' के 'वैनिटी पेपर' की नकल कह रहे प्रेमाश्रम को थे तो शिलीमुख जी टालस्टाय की 'रिजेक्शन' की नकल। इस तरह के आरोपों का जबाब स्वयं प्रेमचंद देते हैं। 1924 के 'समालोचक' के अंक में प्रेमचंद 'प्रेमचंद की प्रेमलीला' शीर्षक लेख में स्पष्ट करते हैं कि जिसने वैनिटीफेयर और रंगभूमि दोनों की सैर की है, वह कभी ऐसी बेतुकी बातें लिख ही नहीं सकता। वैनिटी फेयर आसमान पर हो, रंगभूमि जमीन पर, है वह रंगभूमि।..... समालोचक के भाग दो संख्या तीन में 'गुलाब' महाशय ने रंगभूमि की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस पर वैनिटी फेयर का कुछ प्रभाव है। हो सकता है। लेकिन मैंने वैनिटी फेयर सन् 1903 में पढ़ा था और रंगभूमि सन् 1924 में लिखी, इससे वैनिटी फेयर के भावों का इतने दिनों मन में संचित रहना मुश्किल है, विशेषकर मेरे लिए क्योंकि मेरी मेमोरी अच्छी नहीं।' [13]

नकल या विवाद के बीच "रंगभूमि" पर अन्य जो आरोप लगाए जा रहे थे, उसमें 'गाँधीवाद' का प्रभाव हुआ है। मन्मनाथ गुप्त 'रंगभूमि' का उल्लेख करते हुए 'सूरदास' नामक पात्र को प्रतिकृति मान बैठते हैं। "..... सूरदास की सृष्टि तो मानों गाँधी जी के नमूने पर हुई है। यह पुस्तक गाँधीवाद के अच्छे तथा अन्य पहलुओं के चित्रणों के कारण अमर रहेगी।..... किसी राजनीतिक मतवाद की सफलता या विफलता को हम केवल दयाभावमूलक श्रद्धा या गौरव की भावना से कैसे नाम सकते हैं? हम उसकी सफलता को उसके द्वारा प्राप्त राजनीतिक सफलता से ही नाप सकते हैं।..... यदि हम आत्म-प्रवचन न करें, और अपनी दृष्टि को 'रंगभूमि' की कथा तक ही वास्तविकता के अन्दर सीमित रखें, और कल्पना के पर लगाकर उड़ान न भरने लें तो हमें आसानी से ज्ञात हो जाएगा कि सूरदास की हार पूँजीवाद के मुकाबले में सामन्तवाद की अर्थात् एक अधिकतर प्रतिक्रियावादी पद्धति के मुकाबले में कम प्रतिक्रियावादी पद्धति की विजय है।" [14] गुप्तजी जिस आसानी से 'रंगभूमि' का मूल्यांकन कर एक आसान निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। 'रंगभूमि' का संघर्ष उतना आसान है नहीं। 'रंगभूमि' सन् '20 और '30 के आंदोलनों के बीच हिंद-प्रदेश की रंगभूमि हैं' और 'रंगभूमि का संबंध ठेठ हिंदुस्तानी जनता से है। उसे किसी विदेशी कृति की नकल या उससे अनुप्राणित समझना भ्रम है।" [15] रंगभूमि के नायक का पराजय न तो औद्योगिकीकरण की जीत है और न ही सामन्तवाद के ऊपर पूँजीवाद के विजय का रूप। [16] 'रंगभूमि' में "औद्योगिकीकरण की ऐतिहासिक गति के सम्मुख प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था का पूर्वाग्रह पराजित होता है। किन्तु 'रंगभूमि' सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण की कथा नहीं, बल्कि औपनिवेशिक दमन की त्रासदी है, जिसमें पाँच बीघे जमीन के मालिक सूरदास का हीरोइक विरोध अपने पूरे गौरव के साथ प्रकट होता है। 'रंगभूमि' भारतीयता की ऐसी तेजस्वी प्रतिमा प्रस्तुत करता है जिसमें शारीरिक दुर्बलता के बीच भी अलौकिक बल है, परहित के लिए आत्मत्याग की भावना है, निष्काम संघर्ष की नैतिकता है और है भारतीय किसान की आश्चर्यजनक दृढ़ता।" [17]

'प्रेमाश्रम' से लगायत 'रंगभूमि' तक के आरोप-विवाद के बीच प्रेमचंद अपनी रचना-प्रक्रिया में आगे की ओर जा रहे थे। आगे की ओर जाने का यहाँ मतलब अपने शुरूआती लेखन कला के विकास और विस्तार से है। हालांकि इस प्रक्रिया में प्रेमचंद अदालती मुकदमों के दौर से भी गुजरे, जब उनकी कहानी 'मोटेराम शास्त्री' को अपनी कहानी मान लखनऊ के वैद्य शालिग्राम शास्त्री ने माधुरी के संपादक और प्रेमचंद के ऊपर लखनऊ के सिटी मजिस्ट्रेट के यहाँ मानहानि का मुकदमा दायर करवा दी। मुकदमेबाजी की प्रक्रिया से प्रेमचंद बाहर तो आ गए, पर 'ब्राह्मणवाद' विरोध का और घृणा के प्रचारक लेखक के रूप में साहित्यिक मुकदमेबाजी (आरोपी) का सामना करना पड़ गया। श्री शिलीमुख जी अपने लेख 'प्रेमचंद की कला' में कहते हैं कि "ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचंद जी ने ऐसा ठीका लिया है कि एक सेवासदन को छोड़कर सर्वत्र ही ब्राह्मण निंदनीय और उपहास्य ठहराए गए हैं और उनके जूते लगवाए गए हैं।" 18 प्रेमचंद के ऊपर जिस तरह के आरोप लगाए जा रहे थे, उसका जबाब प्रेमचंद 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान', 'साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता' नामक आलेख में देते हैं। ब्राह्मणवाद के आरोप का जबाब देते हुए वे कहते हैं कि "इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने यह आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है। अव्वल तो उसे किसी ब्राह्मण के हाथों कोई कष्ट नहीं पहुँचा और मान लो किसी ब्राह्मण ने उस पर डिग्री करके उसका घर नीलाम करा लिया हो, या उसे सरे बाजार गाली दे दी हो तो इसलिए वह समस्त ब्राह्मण-समुदाय का दुश्मन क्यों हो जाएगा।"..... इसी आलेख में ब्राह्मणवाद के ढाँचे और उसके विरोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं "केवल पंडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बड़ी दूर की कौड़ी लाना है कि जो

इस पाखंडाचार के प्रति घृणा फैलाता है, वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है।..... लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान पद है, जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है। हर एक टके-पंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ के हथकंडों से जाहिर है।”.... बस, इस विषय में कुछ और लिखने की जरूरत मैं नहीं समझता। मैंने अपनी पोजीशन बतला दी, अगर इस पर भी कोई सज्जन मुझे ब्राह्मणद्रोही कहे जाए, तो मुझे परवाह नहीं है, मैं उसे द्वेष और दिल का गुबार समझ लूँगा।”

आरोपों के सिलसिले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल में तृतीय उत्थान के तहत ‘गद्य साहित्य की वर्तमान गति’ पर लिखते हुए कहते हैं कि “सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के जो आंदोलन देश में चल रहे हैं उनका आभास बहुत-से-उपन्यासों में मिलता है। प्रवीण उपन्यासकार उनका समावेश और बहुत-सी बातों के बीच कौशल के साथ करते हैं। प्रेमचंद जी के उपन्यासों और कहानियों में भी ऐसे आंदोलन का आभास प्रायः मिलता है। पर उनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूख छिप गया है और प्रचारक (प्रोपेगेंडिस्ट) का रूप ऊपर आ गया है।’ प्रेमचंद ‘साहित्य का आधार’ में कहते हैं कि “साहित्य और प्रोपेगेंडा में क्या अन्तर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपेगेंडा में अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवाह नहीं करती। साहित्य शीतल, मन्द समीर है, जो सभी को शीतल और आनंदित करती है। प्रोपेगेंडा आँधी है, जो आँखों में धूल झाँकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखार फेंकती है और झोपड़े तथा महल दोनों को हिला देती है। वह रस-विहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं।” [19] प्रोपेगेंडा और साहित्य के बीच मूलभूत अंतर को समझाते हुए वे कहते हैं “हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक ही कसौटी है, वह हमें सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नहीं? यदि ले जाता है तो वह साहित्य, नहीं ले जाता तो प्रोपेगेंडा या उससे भी निकृष्ट है।” [20]

आचार्य शुक्ल राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों के आभास के चित्रण के तरीके (रूप) की आलोचना करते हुए इस बात की ओर इशारा करते हैं कि रचना में उन आंदोलनों का लक्ष्य बहुत स्पष्ट न हो। कोई भी रचना यदि ‘रचना’ की जगह प्रचार सामाग्री बन जाए तो वह अपने विद्यागत स्वरूप को खो देती है। लेकिन “साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।” [21] और “यदि साहित्यकार ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो, जो समाज में हो रही हैं, अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।” [22] प्रेमचन्द रचनाकार को समाज से निरपेक्ष नहीं मानते थे। उनका मानना था कि समाज से जुड़कर ही कोई भी रचनाकार बेहतर कृति या रचना की निर्मिती कर सकता है। इस प्रक्रिया में वह निजी लाभ के पाने की स्थिति से ऊपर उठा रहता है। क्योंकि “समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसंद न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे-अपनी विधा और योग्यता से समाज को अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे।” [23]

इसी कारण से प्रेमचन्द के उपन्यासों एवम् कहानियों के पात्र हमारे आस-पास और बेहद करीब के होते हैं, एवम् जो लगातार श्रम की प्रक्रिया से जुड़ा होता है। अर्थात् उसकी प्रधानता का पक्ष ‘कर्म’ का होता है। प्रेमचन्द के विचार इस मामले में स्पष्ट थे। उनका मानना था कि “अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था।” [24] इसलिए प्रेमचन्द के उपन्यासों के पात्र सामाजिक जीवन में रहते हुए संघर्षरत हैं। प्रेमाश्रम में किसान-जमींदार का संघर्ष हो, गोदान का किसान-महाजन का संघर्ष, रंगभूमि में पूँजीपतियों से लड़ता हुआ सूरदास हो या फिर ‘कफन’ कहानी का ‘धीसू-माधव’ जो जिंदा रहने के लिए ‘एक पेट’ भोजन के लिए संघर्ष करता है। प्रेमचंद कहीं भी अपने पात्र का नियति या भाग्य के भरोसे नहीं छोड़ते, वो जहाँ भी है कर्मरत है। बावजूद प्रेमचंद के लेखन और उसके पात्रों पर ‘आदर्शवाद और यथार्थवाद’ को लेकर नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना था कि “वास्तव में प्रेमचंद अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं। आपका चरित्र निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है मानव

की सद्वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य निर्माण करना। कथोपकथन, भाषा की सामान्यता या पात्रानुरूपता, पात्रों की विनोदात्मक बातचीत आदि शैली संबंधी विशेषताएँ यथार्थ को छूती हुई परिलक्षित होती हैं। परन्तु केवल भाषा या शैली संबंधी विशेषताओं को लेकर किसी लेखक को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। उनके जीवन दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से प्रेमचंद यथार्थवादी नहीं हैं। उन्हें यथार्थमुख आदर्शवादी कहना भी अस्पष्टता को ही बढ़ाना है।” [25]

प्रेमचंद की रचनाओं में ‘आदर्शवाद’ और ‘यथार्थमुख आदर्शवाद’ की खोज ही बेईमानी है। प्रेमचंद की रचनाओं में जो कुछ है, वे सब कुछ सामाजिक परिवर्तनों की गहरी प्रक्रिया से होकर गुजरता है। इसलिए उनके चरित्र सामान्य होते हुए भी ऊँचे और महान् दिखते हैं। “प्रेमचंद का आदर्श समाज वह था जहाँ इंसान शोषण, दमन और लूट-खसोट, समाजी और वर्गीय उत्पीड़न और मजहबी भेदभाव से मुक्त होकर एक ऐसी जिन्दगी गुजारे जो इंसानी दोस्ती और इंसान के दरमियान मुहब्बत भरे रिश्तों की खुशबू से भरा हो।” [26] ‘शोषण, दमन और वर्गीय उत्पीड़न के साथ-साथ प्रत्येक समय और समाज का अपना जीवन और अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और उसी के अनुसार उसके साहित्यक मानदण्ड भी होते हैं। इसलिए प्रत्येक समय के यथार्थ और यथार्थ-बोध के रूप भी अलग होते हैं। ‘प्रेमचंद के यथार्थवाद के कुछ आयाम’ लेख में एंगेल्स के हवाले से चंद्रवली जी यथार्थ और साहित्य के संबंध को दिखलाते हुए प्रेमचंद की रचनाओं में साहित्य और यथार्थ के अंतःसंबंध का उद्घाटन करते हैं। वे कहते हैं कि “यथार्थ की व्याख्या करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि प्रारूपिक या सामान्य चरित्रों की सृष्टि करके साहित्यकार यथार्थवाद की वास्तविक स्थापना कर सकता है। ‘सामान्य चरित्र’ का अर्थ प्रायः ठीक-ठाक नहीं समझा जाता। ‘सामान्य चरित्र’ एक निष्क्रिय मध्यमान या मंद औसत की ओर संकेत नहीं करता, बल्कि किसी युग के जीवन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का बोध कराता है। प्रेमचंद की कृतियों में पाए जाने वाले चरित्र सही अर्थ में प्रारूपिक या सामान्य हैं। यद्यपि उनके चरित्र निर्धन, शोषित तथा दलित हैं तथापि भारतीय जनता के सभी उत्तम गुणों से वे संपन्न हैं। जब वे हारते हैं या उनका दुखपूर्ण अंत होता है, तब भी वे अपने शोषकों तथा दमनकर्ताओं की अपेक्षा ऊँचे और महान् दीखते हैं।” [27]

आदर्श और यथार्थ के स्वरूप का निर्धारण और उसकी प्रक्रिया ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के अंतर्गत आते हैं। इसलिए युगीन आदर्श और यथार्थ का विश्लेषण भी उसी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के भीतर से संभव है। इस विश्लेषण का एक समकालीन संदर्भ भी होता है। प्रेमचंद ‘आदर्श’ और ‘यथार्थ’ का विश्लेषण करते हुए इसे सामाजिक मुक्ति के साथ-साथ स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य से जोड़ते हैं, “हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो, या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा भाव पाया है। और यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब तक यह साम्प्रदायिकता और यह अन्धविश्वास हममें से दूर न होगा, जब तक समाज को पाखंड से मुक्त न कर लेंगे, तब तक हमारा उद्धार न होगा। हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है...।” [28]

प्रेमचंद का आदर्श कोई कल्पना लोक का आदर्श नहीं था। वह हमारी ही सामाजिक जीवन के बीच से निकला था। उनका आदर्श साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास और शोषण से मुक्त समाज का था। इसलिए अपनी रचनाओं में आदर्श का निरूपण करते हुए भी परिणाम की निश्चितता के लिए प्रेमचंद वस्तुगत यथार्थ से कोई समझौता नहीं करते। इसलिए प्रेमचंद के ऊपर दूसरे लेखकों के प्रभाव की खोज होने लगती है। अमृत लाल नागर, प्रेमचंद के कथा साहित्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि “प्रेमचंद के कथा शिल्प में पुरानी किस्सागोई, और तोल्सतॉय की गहरी छाप पड़ी नजर आती है।” [29] तोल्सतॉय के प्रभाव को दिखलाने के लिए अमृतलाल नागर तोल्सतॉय के भारतीय प्रभाव का जिक्र करते हुए उनकी ईसाइयत को हिन्दू जनमानस से जोड़ दिये। उन्होंने कहा कि “केवल वैष्णव ही नहीं बौद्ध, जैन और सूफी प्रभाव के मानस की मिली-जुली अध्यात्मवादी शक्तियों ने तोल्सतॉय की ईसाइयत से प्रेरणा पाई। जनसाधारण के लिए तोल्सतॉय की धार्मिकता और विशिष्टजनों के लिए मनोवैज्ञानिक और समाजचेता कलाकार के रूप में



तोल्सतोय ने अपनी गहरी छाप छोड़ी।.... तोल्सतोय की इसी ईसाई मनोज्योति ने एक सिरे पर जहाँ वैष्णव संस्कारनिष्ठ गाँधी की अर्तआलोक को संवारा वहीं दूसरे सिरे पर गंवई-गांव के एक औसत हिन्दू परिवार के प्रेमचन्द को भी गहराई से छूआ।” [30] तोल्सतोय का प्रेमचन्द के ऊपर पड़े प्रभाव के विश्लेषण के क्रम में इतने उदार और कृपालु हो जाते हैं कि स्वयं आध्यात्मिक स्थिति में पहुँच जाते हैं। और फिर, तोल्सतोय की ईसाइयत को यहाँ के धर्म और फिर उस धर्म से प्रभावित राजनीतिक व्यक्तित्व गाँधीजी और साहित्यिक व्यक्तित्व प्रेमचन्द से जोड़ दिये। खुद ईसाई धर्म का, भारतीय धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका मूल्यांकन नहीं हुआ, किन्तु नागर जी उससे कई कदम आगे जाकर ईसाई धर्म के ‘तोल्सतोय रूप’ का प्रभाव यहाँ दिखला देते हैं। दिखलाने का क्या? लेखक चाहे तो कुछ भी दिखला सकता है। जैसे नागर जी प्रेमचन्द के भीतर तोल्सतोय का प्रवेश कराकर उसे गोर्की के करीब पहुँचा देते हैं। “विभिन्न भारतीय जनवर्गों की भावनाओं और विचारों का उद्घाटन करने में तोल्सतोय साहित्य की प्रेरणा से ही प्रभावित हुए थे।..... ‘गोदान’ तक आते-आते प्रेमचन्द तोल्सतोय से दूर तो नहीं हुए थे पर गोर्की के अधिक नजदीक आ चुके थे।” आलोचना के भीतर नागर जी की यह उक्ति-वैचित्र्य वाली भाषा मध्यकालीन योगियों की रहस्य-भाषा के ज्यादा नजदीक दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्द उर्दू के रास्ते हिन्दी में आते हैं। और फिर, हिन्दी के कहानीकार, उपन्यासकार और विचारक के रूप में उन्होंने एक ऐसे निकष का निर्माण किया जो आने-वाली तमाम रचनाकारों के लिए आदर्श का या कहें प्रेरणा का केन्द्र-बिन्दु रहा है। निकष के इस निर्माण के क्रम में उन पर तमाम आरोप लगे। वाद-विवाद के बीच से होते हुए प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया विकसित हुई है। इस विकास के क्रम में सुधारवाद, आदर्शवाद के रूप का आरोपण भी हुआ। किन्तु साहित्य को लेकर और अपने लेखन को लेकर शुरुआत से ही वो स्पष्ट थे। अपने पहले कहानी संग्रह ‘सोजेवतन’ की भूमिका में वो लिखते हैं “हरेक कौम का इल्म-ओ-अदब अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है। अब हिन्दुस्तान के कौमी खयाल ने बलोगीयता (बालिगपनु बुद्धिमत्ता) के जीने पर एक कदम और बढ़ाया है और हुब्बे-वतन के जज्बात लोगों के दिलों में उभरने लगे हैं। क्योंकि मुमकिन था कि इसका असर अदब पर न पड़ता ये चन्द कहानियाँ इसी असर का आगाज (प्रारम्भ) हैं और यकीन है कि जूँ-जूँ हमारे खयाल वसीह (विस्तृत) होते जाएँगे, इसी रंग के लिटरेचर को रोज-अफजों (प्रतिदिन बढ़ना) फ़रोग होता जाएगा। ‘सोजेवतन’ की इस भूमिका से प्रेमचन्द के भविष्य की दिशा को समझा जा सकता है। लोगों के जज्बात और असर का अंकन प्रेमचन्द की रचना का मूल आधार है। सोजेवतन की कहानियों से लेकर कफ़न तक में प्रेमचन्द इसका निर्वहन करते हैं।

विचार-विमर्श

प्रेमचन्द को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही कहने का कारण यह भी है कि जहाँ उनका जीवन चित्रण यथार्थ अवलोकन और समाज निरीक्षण पर आधारित है, वहाँ उनके पात्र समस्याओं के समाधान आदि आदर्शवादी हैं। कुछ लोगों का यह मत है कि जीवन में यथार्थ और आदर्श दोनों होते हैं और उपन्यास जीवन का चित्र होता है। अतः उपन्यास भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद भी हो सकता है, ठीक नहीं क्योंकि यथार्थवाद या आदर्शवाद का संबंध जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं लेखक की मानसिक प्रवृत्ति से है, उसकी जीवन दृष्टि से है, और प्रेमचन्द के संस्कार पारिवारिक परिस्थितियाँ युग प्रभाव सब ने उनके जीवन दृष्टि को आदर्शवादी बनाने में योगदान दिया। गोदान में मेहता भी आत्मा की और चिंगारी में विश्वास करते हैं जो समय आने पर आलोकित हो उठती है। ईश्वरीय न्याय पर भी उनकी आस्था थी। गाँधी युग के तीनों चरणों का पूरा इतिहास उनके उपन्यासों में मिलता है। गाँधी से प्रभावित होकर ही उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दिया था, अपने को गाँधीवादी मानते हुए भी उन्हें गाँधी के सिद्धांत में विश्वास था। आर्य समाज के सुधारको से भी वह प्रभावित थे, [29] उनका साहित्य दृष्टिकोण भी आदर्शवादी था। 1936 ईस्वी तक आते-आते गाँधीवादी विचारधारा, सुधारवादी दृष्टि हृदय परिवर्तन के सिद्धांत से प्रेमचन्द का मोहभंग हो चुका था। उन्होंने अपने जीवन के कटु अनुभव तथा मार्क्सवादी विचारधारा ने उनके मन में पक्का विश्वास जमा लिया था कि मानव समाज के कष्टों और यात्राओं का एकमात्र कारण पूंजी है। अर्थ वैमनस्य है और इसके लिए उत्तरदाई है समाज व्यवस्था, पूंजीवादी समाज व्यवस्था। अतः गोदान में उन्होंने इसी पूंजीवादी व्यवस्था का नकाब उलटकर उसके नग्न विभक्त कुरूप यथार्थ का पर्दाफाश किया है, उस पर कड़ा प्रहार किया है।

पूँजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है उनका काम है साधनहीन और बेबस लोगों को लूटना और अपना वर्चस्व दिखाना। गोदान का भी विषय इसी पर आधारित है। शोषक के वर्ग हैं, गांव के – जमींदार, राय साहब, अमरपाल सिंह, महाजन, दातादीन, पुलिस का दरोगा, पटवारी झिंगुरी सिंह यह सब होरी तथा अन्य गांव वालों का शोषण करते हैं।

थाना पुलिस और न्याय व्यवस्था भी पूंजीवादी व्यवस्था के साथ है रामसेवक थाना पुलिस कचहरी अदालत के व्यवस्था को उजागर करता है। राय साहब अपनी महानता दिखाने के लिए गांव में रामलीला और पूजा पाठ करते हैं, किंतु चंदा उन असहाय निर्धनों से

वसूलते हैं जिनके पास पहले ही दुखों का अम्बार है। ब्राह्मण उन्हें धर्म का भय दिखाकर उनका शोषण करते हैं। प्रेमचंद ने भारतीय किसान की उस व्यवस्था को उजागर किया है, जिसके अंतर्गत भारतीय किसान कर्ज में जन्म लेता है और जीवनभर कर्ज के बोझ से दबा रहता है और कर्ज में ही मर जाता है। इतना ही नहीं वह अपनी संतान पर भी कर्ज का बोझ लाद देता है।

गोदान का मुख्य पात्र होरी दिन-रात करके कमाता है ताकि वह एक गाय अपने द्वार पर बन सके लोग उसे ठाकुर कह सके इस लालसा को पूरा करने के लिए होरी जिस प्रकार प्रयत्न करता है ठीक उसी प्रकार शोषित वर्ग उसका शोषण करते हैं। उसका भाई गाय को जहर खिलाकर मार देता है इतने ही क्रम में प्रेमचंद ने महाजनी, पुलिस, न्यायालय, पंच सभी का यथार्थ उजागर कर दिया है। महाजनी का जाल केवल गांव ही नहीं नगर में फैला हुआ है, अमीर लोग भी उस में फंसकर कष्ट सहते हैं। इस सभ्यता के कारण ऋण लेना पड़ता है और महाजन बेईमानी करके निरंतर शोषण करता है।

गांव में पंचायत होना, गौ हत्या, गोबर का झूनिया से विवाह, मातादीन सिलिया चमारी से अवैध संबंध यह सभी घटनाएं यह सभी प्रसंग लेखक ने एक सामाजिक विकृति और यथार्थ चित्रण के लिए किया है।[30]

परिणाम

कह सकते हैं कि प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य यात्रा यथार्थवादी और आदर्शवाद पर आधारित था। प्रेमचंद मध्यमवर्गीय समाज से थे अतः उन्हें मध्यमवर्ग अथवा उसे नीचे के जात अथवा समाज से उन्हें जुड़ाव था। प्रेमचंद का सभी साहित्य स्वाधीनता संग्राम के उद्देश्यों की पूर्ति करता था। गांधी जी के आह्वान पर उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर गांधी जी का साथ दिया। अंततोगत्वा उन्होंने महसूस किया कि यह समाज में पूंजीवादी का प्रभाव है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में अंतर केवल और केवल पूंजी के आधार पर करता है उनका मोह भंग हुआ। प्रेमचंद ने अपने साहित्य यात्रा में अग्रणी की भूमिका निभाई 1936 के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने साहित्य की रूपरेखा बताई थी उन्होंने साहित्य को केवल मनोरंजन के लिए नहीं अपितु समाज के लिए होने की बात कही थी।[31] आधुनिक हिंदी के साहित्यकारों में प्रेमचंद एक वैश्विक साहित्यकार हैं। वे 1916 से 1936 तक अर्थात् 20 वर्षों तक कथा साहित्य की संरचना में लगे रहे। साहित्य के माध्यम से युग के ढांचे को बदलने का उपकरण ही प्रेमचंद के साहित्य का प्राण है। वे साहित्य को परिवर्तन और जागरण का सशक्त माध्यम मानते थे। प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष सीए भाषण में उन्होंने 'साहित्य को समाज के आगे चलने वाली मशाल कहा है।' वह हिंदी के युग प्रवर्तक कहानीकार हैं। वे पहले नवाबराय के नाम से उर्दू में लिखते थे, कालांतर में हिंदी में प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे। उनकी पहली हिंदी कहानी 'सौत' सन 1915 में प्रकाशित हुई और अंतिम सन 1936 में, इस युग को प्रेमचंद युग के नाम से जाना जाता है। उन्होंने अपने जीवन काल में लगभग 300 कहानियों की रचना की जो 'मानसरोवर' के 8 भागों में संकलित है। भाव और शिल्प की दृष्टि से अंतर पूर्व और बाद की कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। इन कहानियों में वे स्वयं के अनुभव को दोहराते नहीं दिखते। उनके चरित्र और विषय जाने पहचाने हैं। उनकी कहानियों की लोककथा जैसी सीधी-सादी शुरुआत और लोक रस की गहरी अनुभूति का निर्वाह पाठकों को बांधे रखता है। उनकी कहानियों में तत्कालीन समाज का विशद चित्रण मिलता है। पुष्पाल सिंह के शब्दों में " प्रेमचंद ने मनुष्य, समाज व्यक्ति और उसके परिवेश को कथा के केंद्र में ला खड़ा किया था। सामान्य व्यक्ति उनकी कहानियों का नायक बना।[32]

प्रेमचंद ने कहानियों को जीवन का अंग माना है उनके अनुसार " सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।" मनोविज्ञान पर आश्रित होने के कारण प्रेमचंद की कहानियों में आदर्श और यथार्थ को विशेष स्थान मिला है। उनका दृष्टिकोण चरित्र- चित्रण और कथावस्तु में यथार्थवादी है परंतु दृष्टिकोण में आदर्शवादी है।[30]

यथार्थ और आदर्श के संबंध में प्रेमचंद ने विस्तार से विचार किया है, उन्होंने किसी बंधी बंधाई विचार प्रणाली के साथ अपने को बांध लेने की बजाय अपने लिए स्वतंत्र मार्ग का निर्माण किया। वे यथार्थ को साहित्य के लिए अनिवार्य मानते हैं, लेकिन यथार्थ के अतिवादी रूप को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। वे समाज में यथार्थ को ही देखना चाहते हैं और आदर्श को भी नहीं भूल पाते, दोनों के अतिरेक रूप के समर्थक नहीं है। " यथार्थवाद यदि हमारी आंखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है। आदर्शवाद से सदैव यह भय बना रहता है कि साहित्यकार कहीं ऐसे चरित्रों का निर्माण न कर बैठे जो केवल सिद्धांतों की यथार्थ मूर्ति हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।" प्रेमचंद इस खतरे से परिचित थे कि यथार्थ के भीतर से ही जन्मा आदर्श न होने पर थोपे गए सिद्धांत रचना को अविश्वसनीय बना देते हैं। इसलिए कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दिखती तो यथार्थ है पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि यथार्थ मालूम हो। उसका मापदंड जीवन के मापदंड से अलग है, इसलिए उच्च कोटि का साहित्य वही कहा जा सकता है जिसमें आदर्श और यथार्थ दोनों का समावेश हो जाए, यही प्रेमचंद जी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है उनके अनुसार यथार्थ को सजीव बनाने के लिए आदर्श का उपयोग होना ही चाहिए। इस दृष्टि से उनकी प्रतिनिधि कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोगा',



'दुर्गा का मंदिर', 'सज्जनता का दंड', 'पंच परमेश्वर' और 'मृत्यु के पीछे' आदि को लिया जा सकता है। मधुरेश के अनुसार "इन कहानियों के पात्र और उनका परिवेश तो यथार्थ दिखाई देता है। लेकिन इन पात्रों का आचरण और उसे प्रभावित करने वाली सोच अपने मूल रूप में यथार्थ विरोधी ही है, उसे आदर्शवाद ही कह सकते हैं।" इन कहानियों का मूल स्वर पश्चाताप है। प्रेमचंद के मन में मनुष्य की सद्व्रतियों के प्रति गहरी आस्था है। उन्हें लगता है कि मनुष्य बुनियादी तौर पर बुरा नहीं होता एवं सुधार की संभावनाएं सदा बनी रहती हैं। गांधी जी का हृदय परिवर्तन वाला सिद्धांत भी उन्हें इस दिशा में गहराई से प्रभावित करता दिखाई देता है। 'सज्जनता का दंड' कहानी से उदाहरण दृष्टव्य है- " अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लाल बिहारी को गले लगा लिया और दोनों भाई खूब फूट-फूट कर रोए लाल बिहारी ने सिसकते हुए कहा-, भैया अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुंह न देखूंगा, इसके सिवा आप जो भी दंड देंगे, मैं सहर्ष स्वीकार कर लूंगा।" इसी प्रकार 'पंच परमेश्वर' भी इस भावुक और भोले विश्वास को प्रकट करती है कि पंच की जुबान पर ईश्वर का वास होता है [31] पंच न किसी का दुश्मन होता है और न दोस्त। प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में सेवाभाव की प्रशंसा में कहा था कि " सेवा में जो आध्यात्मिक आनंद है वही हमारा पुरस्कार है।" उनकी अंतिम कहानी 'क्रिकेट मैच' का भी यही संदेश है कि सबके लिए जीना ही जीवन का सच्चा मंत्र है। 'ईदगाह' कहानी की श्रेष्ठता और लोकप्रियता में जीवन का उच्च आदर्श मूल कारण है। कहानी का हामिद बालक होकर भी अपने मनोरंजन की अपेक्षा करके दादी के कष्ट के निवारण के लिए मेले से चिमटा खरीदता है। यह उच्च कोटि की संवेदनशीलता तथा स्वच्छ मन का आदर्श है। हामिद अपने सुख का त्याग करके दूसरे के लिए सुख का साधन ढूंढता है और मानवीय रिश्तो को सर्वोच्च स्थान देता है। हामिद में आदर्श और व्यवहार का अनुपम समन्वय है प्रेमचंद इन कहानियों में जीवन का एक आदर्श चित्र अंकित करते हैं और अपने पात्रों का हृदय परिवर्तन तथा उनके मनोविकारों एवं कष्टदायक विचारों का परिष्कार करके उन्हें मानवीय गुणों और मूल्यों की प्रतिमूर्ति बनाते हैं। उनकी कहानी 'कातिल' और 'कातिल की मां' में तो गांधी की 'अहिंसा' पूरी शक्ति और तर्कों के साथ जीवित है 'कातिल की मां' कहानी की मां रामेश्वरी भी गांधी के समान धर्म, नीति, अहिंसा, त्याग, तप और आत्म शुद्धि से प्राप्त स्वराज्य चाहती है, वह बेटे को समझाती हुई कहती है [32] " यह समझ लो, जो स्वराज कल्ल और खून से मिलेगा, वह कल्ल और खून ही कायम करेगा आवाम की कोशिश में जो स्वराज मिलेगा वह मुल्क की चीज होगी, जनता की चीज होगी और थोड़े से आदमियों का एक गिरोह तलवार के जोर से इंतजाम न करेगा, हम आवाम का स्वराज चाहते हैं कल्ल और खून की ताकत रखने वाले गिरोह का नहीं।" प्रेमचंद की यह आदर्शवादी युग संदर्भ तथा युग चेतना से जन्मी है अतः इसकी वास्तविकता एवं प्राणवत्ता में संदेह करना युग की जागृति तथा संघर्ष पर संदेह करना है और 19वीं बीसवीं शताब्दी में पराधीन भारत के नवजागरण आत्मबोध तथा स्वाधीनताकामी भारतीय के रूप में जीने की राष्ट्रीय आकांक्षा के ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा एवं निरादर करके राष्ट्र के प्रति अपराध करना है। प्रेमचंद का यह आदर्शवाद युग का आदर्शवाद है। वह संपूर्ण राष्ट्र का आदर्शवाद है, अकेले प्रेमचंद का ही नहीं है। डॉ नामवर सिंह ने प्रेमचंद पर गांधी के इस प्रभाव के कारण ही "उन्हें स्वाधीनता आंदोलन के अनूठे महागाथाकार कहा है" [33]

भारतीय ग्रामीण जीवन और दलित समाज का अंकन प्रेमचंद के लिए आंदोलन या नारा नहीं था। देहात उन्हें प्रिय था और वे देहाती जीवन के परंपरागत सौंदर्य और मानवीय स्वरूप को बनाए रखना चाहते थे। परंतु वे इस बात को भी अच्छी तरह समझते थे कि अपनी सारी सादगी, सहजता और सुरक्षा के बावजूद ध्वंसप्रायः सामंती व्यवस्था और नवागत पूंजीवाद के दोहरे दबाव के फलस्वरूप भारतीय किसान की नियति को बदल पाने के लिए निर्णायक संघर्ष अपेक्षित है। तीसरे दशक का अंत होते-होते देश की राजनीतिक और अपनी समाज रचना की पहचान का प्रेमचंद एक बेहतर और वयस्क परिचय देने लगते हैं। पीड़ित और वंचित वर्ग के अभिशप्त जीवन, उन पर होने वाले अत्याचार, बेगार और उनके निर्मम शोषण के बड़े यथार्थ और आत्मीय प्रमाणिक चित्र इस दौर की कहानियों में सहज ही देखे जा सकते हैं। कठोर मेहनत के बावजूद किसान गरीब और फटे हाल है क्योंकि जमींदार कारिंदे पुलिस और धर्म के ठेकेदार सब के सब जोक की तरह चिपककर दृश्य और अदृश्य रूप में उसका खून चूस रहे हैं। अपने निबंध महाजनी सभ्यता में इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं- " मनुष्य समाज दो भागों में बट गया है। बड़ा हिस्सा मरने और खपने वालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं जरा भी रू- रियायत नहीं उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।" अत्याचार पर आधारित इस व्यवस्था का भयावह रूप 'सवा सेर गेहूं', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआं', 'दूध का दाम' और 'कफ़न' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। [33]

'सवा सेर गेहूं' में शंकर विप्र से लिए गए सवा सेर गेहूं के बदले जो वह द्वार पर आए साधु के अतिथि सत्कार के लिए लेता है। जीवन भर गुलामी का पट्टा अपने गले में डाल लेता है। खलीहानी में डेढ़ पसेरी गेहूं देकर वह अपने को चुकता समझ चुका था कि 7 वर्ष बाद उससे उन सवा सेर गेहूं का तगादा किया जाता है। साल भर पेट काटकर ₹60 देने के बाद भी उसकी ओर ₹120 बाकी निकलते हैं यह निर्मम शोषण उसके मन में एक किसान से मजदूर बन गए आदमी के मन में श्रम के प्रति निराशा और घृणा का भाव पैदा करता है.... जब सिर पर ऋण का बोझ ही लड़ता है तो क्या मन भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह कम हो गया, मेहनत से घृणा हो गई। शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वे जरूरतें जिनको उसने साल तक डाल रखा था अब द्वार पर खड़ी रहने वाली भिखारीन थी, 20 वर्ष तक गुलामी करने के बाद जब शंकर मरता है तो भी सवा सेर गेहूं के कर्ज में ₹100 उसके सिर पर सवार थे जिनके भुगतान के लिए उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी जाती है। [34] 'सद्गति' कहानी का दुखी चमार अपने नाम

से भी दुखी ही है जो ईश्वर भक्त पंडित घासीराम से साइत पूछने जाता है तो उनकी गाय को घास डालने से लेकर भूसा ढोने और लकड़ी काटने तक सब कुछ भूखे ही मरते रहकर सद्गति को प्राप्त होता है। सारी सेवा के बावजूद यह लोग नीच, कमीन और अस्पृश्य है जो मजबूरी में ठाकुर के कुए का एक लोटा पानी भी भर लेने के हकदार नहीं है। शेर से भी भयानक मुंह वाले ठाकुर को देखते ही गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है और घड़ा धड़ाम से हिलकोरे की आवाजें छोड़ता हुआ पानी में सरक जाता है। बदहवासी में वह घर पहुंच कर देखती है कि जोखू लोटा मुंह से लगाए वहीं गंदा मेला और बदबूदार पानी पी रहा है।.....'पूस की रात' में जब तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते हैं हलकू अपने खेत के किनारे एक के पत्तों की एक छतरी के नीचे बांस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े कांप रहा होता है। [35] अपने कुत्ते जबरा को अपने शरीर से सटाकर वह उस सेक को एक नियामक की तरह भोगता है। सब कुछ करके भी कुछ न हो पाने की निरूपायता उसे अकर्मण्य बना देती है। वह नील गायों से खेत को बर्बाद होते देखता रहता है और कुछ नहीं कहता है। सुबह खेत की दशा देखकर हलकू और उसकी पत्नी मुन्नी की प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है। मुन्नी इस बात को लेकर दुखी है कि अब मजदूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी। लेकिन हलकू स्थिति को लेकर प्रसन्न भी है अब रात की ठंड में यहां सोना तो नहीं पड़ेगा। 'कफन' कहानी हृदय स्तब्धता की कहानी है। इस स्थापना के दो आधार हैं एक आलू खाने के लालच में घीसू माधव का बुधिया को मरने देना और दूसरा दोनों का कफन के पैसों से शराब पीना और मस्ती में झूमना नाचना यह दोनों ही मानवीय एवं संवेदन शून्यता की घटनाएं हैं, जब घीसू निसंग भाव से कहता है कि वह बचेगी नहीं तो माधव चिढ़कर उत्तर देता है कि मरना है तो जल्दी ही क्यों नहीं मर जाती, देख कर भी वह क्या कर लेगा। लगता है जैसे कहानी के शुरू में ही बड़े सांकेतिक ढंग से प्रेमचंद बुझ चुके अलाव के द्वारा पारिवारिक सद्भाव और ऊष्मा के चूक जाने की ओर इशारा कर रहे हैं और आंच का अंधकार में लय हो जाना मानो पूंजीवादी व्यवस्था का ही प्रगाढ़ होता हुआ अंधेरा है जो सारे मानवीय मूल्यों, सद्भाव और आत्मीयता को रोदता हुआ निर्णय भाव से बढ़ता जा रहा है। 'कफन' एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कहानी है जो श्रम के प्रति आदमी में निराशा पैदा करती है, क्योंकि उस श्रम की सार्थकता उसे नहीं दिखाई देती है। 20 साल तक यह व्यवस्था आदमी को भरपेट भोजन के बिना रखती है इसलिए आश्चर्य नहीं कि अपने परिवार के ही एक सदस्य के मरने जीने से ज्यादा चिंता उन्हें अपने पेट भरने की होती है। इन कहानियों में देश का लघुत्तम, निर्धनतम और दुर्बलतम माना जाने वाला मनुष्य समाज अपने दूसरे मनुष्य समाज के क्रूरतम भेदभाव, शोषण एवं अन्याय के कारण अपनी नैसर्गिक वस्तुओं और अपने मानव अधिकारों से वंचित है। यह पीड़ित शोषित और दलित समाज अपने परिश्रम से खेत में उपजाई फसल से वंचित है, वह जीवन चलाने के लिए आवश्यक मानव अधिकारों से वंचित है, भरपेट भोजन करने की सुविधा से भी वंचित है।

डॉ रामविलास शर्मा के अनुसार "प्रेमचंद गरीबी और अंधविश्वासों को आदर्श कहकर चित्रित नहीं करते, वे दिखाते हैं कि इतने अंधेरे में भी मनुष्यता का दीपक कैसे चल रहा है।"¹⁰ इन कहानियों में कोई आदर्श नहीं है और ना ही कोई हृदय परिवर्तन है इसमें केवल जीवन यथार्थ है।[36]

यथार्थ का आग्रह जड़ता और यथा स्थिति में बदलाव के पक्ष में होता है जिसे प्रेमचंद ने समझा है और अपनी कहानियों में उतारा है। प्रेमचंद ने अपने यथार्थ चित्रण के बल से मनुष्य की व्यक्तिगत रूचि, आदर्श भावना तथा उसके स्वभाव की विशेष प्रवृत्तियों के उनके बातचीत, रहन-सहन, रंग ढंग, चाल चलन और उनके विशेष लक्षणों के द्वारा उनका सच्चा चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। पाठक इन सभी बातों को अपने आसपास घटित होता हुआ अनुभव करने लगता है।[37]

प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से जीवन की विभिन्न स्थितियों का चित्रण किया है। मानवता के प्रचार-प्रसार और मूल्यों के निर्धारण में उनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। दो महायुद्ध के बीच प्रेमचंद द्वारा रचा गया साहित्य उनकी व्यापक उदारता और सहिष्णुता का परिचय देता है और सामाजिक विकास में मानवीय मूल्यों के महत्व को प्रतिपादित करता है किसी अन्य कथाकार ने जीवन के इतने व्यापक फलक को अपनी कहानियों में नहीं समेटा जितना प्रेमचंद ने। प्रेमचंद के अनुसार 'साहित्य अपने समय का प्रतिबिंब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदय को स्पंदित करते हैं वही साहित्य पर भी अपनी छाप डालते हैं।' प्रेमचंद ने इस यथार्थवादी चेतना के साथ देश प्रेम के युगीन आदर्श को जोड़कर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की नई कसौटी की स्थापना की और इस प्रकार हिंदी कहानी में यथार्थता के साथ आदर्शवाद को जोड़कर अपने युग की पूरी सच्चाई को उसकी श्रेष्ठता का आधार बना दिया। वे अपनी कहानियों में मानव जीवन और मानव समाज की व्याख्या आदर्श और यथार्थ दोनों रूपों में करते हैं और दोनों को ही संयमित रूप में पेश करते हैं वे दोनों का ऐसा सम्मेलन चाहते हैं जिसमें जीवन के यथार्थ से जीवन को बल स्वास्थ्य और प्रकाश मिले।[38]

निष्कर्ष

इस तस्वीर का प्रतिनिधित्व के बजाय वास्तविकता को स्वीकार आदर्श बनने की कोशिश कर समय बर्बाद नहीं है और एक यथार्थवादी होना आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (Idealistic Realism) आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का समन्वय करने वाली विचारधारा है। आदर्शवाद और यथार्थवाद बीसवीं शती के साहित्य की दो प्रमुख विचार धाराएँ थीं। आदर्शवाद में सत्य की अवहेलना या उस पर विजय प्राप्त कर के आदर्शवाद की स्थापना की जाती थी। जबकि यथार्थवाद में आदर्श का पालन नहीं किया जाता था, या उसका

ध्यान नहीं रखा जाता था। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में यथार्थ का चित्रण करते हुए भी आदर्श की स्थापना पर बल दिया जाता था। इस प्रवृत्ति की ओर प्रथम महत्त्वपूर्ण संकेत प्रेमचन्द का है। उन्होंने कथा साहित्य को यथार्थवादी रखते हुए भी आदर्शोन्मुख बनाने की प्रेरणा दी और स्वतः अपने उपन्यासों और कहानियों में इस प्रवृत्ति को जीवन्त रूप में अंकित किया। [39] उनका उपन्यास प्रेमाश्रम इसी प्रकार की कृति है। पर प्रेमचन्द के बाद इस साहित्यिक विचारधारा का आगे विकास प्रायः नहीं हुआ। इस चिंतन पद्धति को कदचित कलात्मक स्तर पर कृत्रिम समझकर छोड़ दिया गया। प्रेमचन्द कला के क्षेत्र में यथार्थवादी होते हुए भी सन्देश की दृष्टि से आदर्शवादी हैं। आदर्श प्रतिष्ठा करना उनके सभी उपन्यासों का लक्ष्य है। ऐसा करने में चाहे चरित्र की स्वाभाविकता नष्ट हो जाय, किन्तु वह अपने सभी पात्रों को आदर्श तक पहुँचाते अवश्य है। प्रेमचन्द की कला का चर्मोत्कर्ष उनके अन्तिम उपन्यास गोदान में दिखाई पड़ता है। "गोदान" लिखने से पहले प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे, परन्तु "गोदान" में उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद जवाब दे गया है। प्रेमचन्द इस विचारधारा के प्रमुख लेखक थे। [40]

प्रतिक्रिया दें संदर्भ

1. शर्मा, रामविलास; माक्र्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ 0-22, प्रथम संस्करण 1984, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. सिंह, मुरली मनोहर, अवस्थी रेखा, प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता (सं 0), पृ 0- 24, प्रथम संस्करण -2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ 0- 154, प्रथम संस्करण 2002, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
4. वही, पृ 0- 155
5. वही, पृ 0- 155
6. वही, पृ 0- 155
7. सिंह, मुरली मनोहर, अवस्थी रेखा, प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता (सं 0) पृ 0- 107, प्रथम संस्करण -2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8. वाजपेयी, नन्ददुलारे, प्रेमचन्द: एक साहित्यिक विवेचन, पृ 0- 17, संस्करण - 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
9. वही, पृ 0- 17
10. शर्मा, रामविलास, प्रेमचंद और उनका युग, पृ 0-43, छठी आवृत्ति -2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
11. वही, पृ 0- 45
12. तलवार, वीरभारत, किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द, पृ 0- 19, द्वितीय संस्करण - 2008, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
13. प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ 0- 158, प्रथम संस्करण, स्वराज, प्रकाशन, नई दिल्ली
14. गुप्त, मन्मनाथ, प्रगतिवाद और रूपरेखा, पृ 0-32-33, संस्करण -1952, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
15. शर्मा, रामविलास, प्रेमचन्द और उनका युग, पृ 0- 79, छठी आवृत्ति, 2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
16. वही, पृ 0-80
17. सिंह, नामवर, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ 0- 69-70, संस्करण -2010, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
18. प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ 0- 164, प्रथम संस्करण 2002, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
19. मिश्र, सत्यप्रकाश, प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध (सं 0), पृ 0- 56, द्वितीय संस्करण 2003, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद
20. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ 0- 296, संवत् 2059, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
21. मिश्र, सत्यप्रकाश, प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध (सं 0), पृ 0- 119, द्वितीय संस्करण, 2003, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद
22. वही, पृ 0- 119
23. वही, पृ 0- 91
24. वही, पृ 0- 95
25. वही, पृ 0- 96
26. वही, पृ 0- 97



27. प्रधान , गोपाल , छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद , पृ 0- 176-176 , प्रथम संस्करण -2002 , स्वराज प्रकाशन , नई दिल्ली
28. सिंह मुरली पृ 0-171
29. सिंह , चंद्रवली , आलोचना का जनपक्ष , पृ 0-102 , संस्करण -2003 , वाणी प्रकाशन , नई दिल्ली
30. प्रेमचंद , प्रेमचंद के विचार (सं 0) , पृ 0- 463 , संस्करण -2010 , प्रकाशन संस्थान , नई दिल्ली
31. पुष्पाल सिंह समकालीन कहानी सोच और समझ, 1986, पृष्ठ 19-20

32. प्रेमचंद कुछ विचार , पृष्ठ 53
33. प्रेमचंद साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 63
34. मधुरेश हिंदी कहानी का विकास, पृष्ठ 27
35. प्रेमचंद कहानी सज्जनता का दंड, पृष्ठ 13
36. प्रेमचंद विविध प्रसंग , पृष्ठ 244
37. प्रेमचंद कहानी कातिल की मां, पृष्ठ 57
38. प्रेमचंद विगत महत्व और वर्तमान अर्थबता , पृष्ठ 42
39. प्रेमचंद निबंध महाजनी सभ्यता, हंस(सितंबर 1936)
40. डॉ रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ 68